

# श्रम की महत्ता का बोध



**हमारे समय में श्रम की गरिमा कांचा आइलैया**  
एकलव्य,  
शिवाजी नगर,  
भोपाल, म.प्र.  
कीमत: 80 रु.



**शिक्षक की भूमिका: आइलैया**

अनिल चमड़िया

**स**माजशास्त्रीय लेखक कांचा आइलैया ने अपनी इस सामग्री में बताया है कि हमारे समय में श्रम की गरिमा कितनी होनी चाहिए. श्रम ही वास्तविक शिक्षा है. युवाओं को इस बात का एहसास ही नहीं है कि कुम्हार, धोबी, बुनकर, मोची ने अपने श्रम से समाज के बुनियादी ढांचे को कैसे खड़ा किया. आरक्षण का विरोध करने वाले युवाओं से वे कहते हैं कि स्वांग की तरह सड़कों पर झाड़ू लगाने, जूते पॉलिश करने और सब्जियां बेचने जैसे सांकेतिक काम करके छात्र यह प्रदर्शित कर रहे थे कि वे श्रम को गरिमापूर्ण नहीं मानते. वे शिक्षाविदों पर एक बड़ा सवाल उठाते हैं कि भारत जैसे देश में इसलिए ऐसा होता है क्योंकि हमारे बच्चों को कभी भी श्रम को सम्मान के साथ देखना नहीं सिखाया जाता है. श्रम की गरिमा के मुद्दे से सरोकार रखने वाली किताबें न तो पाठ्य-क्रमों में शामिल हैं और न ही उनके बाहर उपलब्ध हैं.

देश में जिनके श्रम को हिकारत की नज़र से पढ़ा-लिखा समूह देखता है, उसे आइलैया बताते हैं कि यही वह आदिवासी समाज है जो हमारे पहले शिक्षक थे, जिन्होंने उन कंद-मूल, फलों और मांसों की पहचान की जिन्हें आज हम खाते हैं. ये जाति व्यवस्था की स्थापना के बाद का काल है जब पशुपालन को तुच्छ और गंदा पेशा माने जाने लगा. आइलैया एक अच्छे शिक्षक की तरह सहज भाषा में बताते हैं कि किसी मानव समाज की संस्कृति उसके आसपास रहने वाले जानवरों के साथ उसके संबंधों से समृद्ध होती है. चरवाहा समुदाय इन संबंधों की एक महत्वपूर्ण कड़ी है. आज देश में दूध के बढ़ते उत्पादन को श्वेत क्रांति की संज्ञा दी जाती है लेकिन इस तरह के व्यवसाय के देश-विदेश के प्रबंधन की पढ़ाई में ये शामिल नहीं होता कि भारतीय उपमहाद्वीप में पशु पालकों ने भैंसों को छह हजार ई.पू. में ही पालतू बना लिया था.

समाज की श्रमिक जातियों से नई सांस्थानिक शिक्षा व्यवस्था का काटा जाना और उसका अमानवीय व्यवस्था की निर्मित की तरफ बढ़ते जाना साथ-साथ हो रहा है. दरअसल, इन दोनों के बीच के रिश्तों को समझने का नया आयाम

आइलैया की इस सामग्री में मिलता है. मूल्यहीन प्रतीत होने वाली वस्तु को सबके उपयोग की जा सकने वाली वस्तु के रूप में रूपांतरित कर देने वाले उद्योग से तो पूंजी का विस्तार हुआ लेकिन इस काम में लगी श्रमिक जाति भारतीय समाज में गाली के रूप में परिभाषित हुई. दरअसल, जाति व्यवस्था ने ही श्रम की गरिमा और महत्व को नकारा और उसने निर्ममता के साथ मानव समाज के कथित विकास के कार्यक्रम तैयार किए.

मानव सभ्यता के विकास में निरंतर जो जातियां लगी रहीं, उनके न होने की कल्पना की जाए तो कैसा लगेगा? आधुनिक युग के पहले नाइयों के अलावा अन्य जाति के लोग बीमारियों से पीड़ित लोगों को नहीं छूते थे. बीमारी अपने आप में अछूत मानी जाती थी. उन्होंने बाल काटने के लिए ही नहीं, शल्य क्रिया के लिए भी उस्तरे का उपयोग किया. बाल नहीं काटते तो ये समाज आज कैसा दिखता? धोबी ने यदि पहला रासायनिक साबुन नहीं खोजा होता और कपड़े साफ करने की तमीज नहीं सिखाई होती तो समाज कितना बीमार दिखता? बुनकरों ने चरखे और करघे का आविष्कार किया. लेकिन आज बुनकर भूखे मर रहे हैं. उन्हें भी किसानों, कुम्हारों और चर्मकारों की तरह पढ़ने-लिखने नहीं दिया गया. आइलैया पूछते हैं कि कुम्हार ने मिट्टी को सजीव बनाकर इतिहास में नए अध्याय की शुरुआत नहीं की होती तो क्या होता? मनुष्य ने भोजन को संग्रह करना और सुरक्षित रखना सीखा तो कुम्हारों द्वारा बनाए गए बरतन इस दिशा में पहला कदम थे. पुस्तक के अंतिम अध्याय में ऐतिहासिक तथ्यों और वैज्ञानिक तर्कों के साथ आइलैया ने बताया है कि स्त्री-पुरुष समानता का प्रश्न श्रम संबंधी प्रश्न है. पितृसत्तात्मकता ही महिलाओं को पुरुषों से कमतर महसूस कराती है. दरअसल, समाज के क्रमवार विकास को समझे बिना ज्ञानी हो जाने के बुनियादी खतरे होते हैं. धर्म के बारे में तो उनकी यह पंक्ति ही सबसे भारी है कि किसी सकारात्मक धर्म में श्रम ही प्रार्थना का सबसे अच्छा रूप होता है. यदि श्रम की गरिमा किसी समाज और धर्म का केंद्रीय सिद्धांत बन जाए तो कोई व्यक्ति सुबह चर्मकार्य या बरतन साफ करने का काम कर सकता है और दोपहर में पुजारी या मुल्ला का काम कर सकता है. आइलैया की यह सामग्री तमाम तरह के नए ज्ञानोद्योपतियों, ज्ञानपतियों और शिक्षापतियों के लिए भी है और सामाजिक रूप से विभाजित करने वाली वर्णवादी व्यवस्था की पोषक राजनीति को समझने के लिए तो है ही. भरत त्रिपाठी ने जिस सहजता से हिंदी में अनुवाद किया है वह हिंदी में अबूझ अनुवाद प्रस्तुत करने की राजनीतिक साजिश को समझने में भी मदद करता है. ■

# श्रम की दृष्टि में स्त्री-पुरुष समानता

कांचा आइलैया

श्रम के बंटवारे की परम्परागत सोच से स्त्री-पुरुष के बीच के बंटवारे को और अधिक असंतुलित बना दिया है। स्त्री-पुरुष समानता की नींव पारिवारिक संबंधों में समानता से ही डाली जा सकती है। लेकिन हमारे घरों में लड़के और लड़की के बीच गैर बराबरी का व्यवहार होता है जो अन्ततः हमारे संपूर्ण सामाजिक परिवेश में दिखाई देता है अतएव घर में समानता लाए बगैर समाज के स्तर पर समानता का आना महज दिवास्वप्न ही है। का. सं.

**जी** ने के लिए स्त्री-पुरुष सभी को काम करना जरूरी है। काम करने से ही मनुष्य अच्छी शारीरिक सेहत बनाए रखकर जीवित रह पाता है। सवाल यह है कि क्या महिलाएं और पुरुष एक ही काम कर सकते हैं? अपने रोजमर्रा के जीवन में, अपने घरों में और खेतों में भी हम देखते हैं कि महिलाओं से एक तरह के काम करवाए जाते हैं और पुरुषों से दूसरी तरह के।

श्रम को लेकर लिंग-भेद बच्चे के पालन-पोषण के समय से ही शुरू हो जाता है। माता-पिता के बीच संबंध के परिणामस्वरूप बच्चे का जन्म होता है। माँ बच्चे को जन्म देती है और फिर स्तन के दूध या कभी-कभी बोटल के दूध द्वारा उसका पोषण करती है। जब बच्चा मल या मूत्र विसर्जित करता है तो वह उसका शरीर धुलाती है। आमतौर पर माँ ही बच्चे को नहला-धुलाकर तैयार करती है। रसोई में हम उसे खाना बनाते देखते हैं। फिर वहीं बरतन धोती है और घर की साफ-सफाई करती है। यदि परिवार कपड़े धोने के लिए कोई घरेलू सेवक नहीं रखता तो माँ ही अकेले सारा काम करती है। घर का झाड़ू-पोंछा या सफाई का कोई भी अन्य काम आम तौर पर परिवार की महिला सदस्यों द्वारा ही किया जाता है।

ऐसा नहीं होना चाहिए। बच्चे का स्तनपान के जरिए पोषण कराने के अलावा दूसरे सभी काम

दोनों पालकों, महिला और पुरुष द्वारा समान रूप से बांटे जा सकते हैं। पिछले कुछ दशकों में कई समाजों में पुरुषों और महिलाओं ने ऐसे बुनियादी घरेलू कामों को आपस में बांटना शुरू कर दिया है। परंतु अधिकांश मामलों में भारतीय पुरुष ऐसे किसी काम में हाथ नहीं बंटाते। क्यों?

भारतीय परिवारों में बचपन से ही घर के कामों को लड़कों और लड़कियों के बीच बांट दिया जाता है। लड़कियों को रसोई में माँ की मदद करने के लिए कहा जाता है। सब्जियां काटना, बरतन धोना, कपड़े धोना, घर का झाड़ू-पोंछा करना इत्यादि स्त्रियों के काम माने जाते हैं। लड़कों को केवल खेती के काम में परिवार की मदद करने और दुकानों से सामान खरीदकर लाने के लिए कहा जाता है। माताएं स्वयं भी न तो लड़कों को घर की साफ-सफाई के काम सिखाना पसन्द करती हैं और न ही खाना बनाने के काम में उनकी मदद लेना पसन्द करती हैं। इसी तरह वे लड़कियों को खेती के काम पर भेजना पसन्द नहीं करतीं और न ही उन्हें साइकिल से पड़ौस की दुकान तक जाने के लिए कहती हैं। यदि कोई माँ अपने लड़के और लड़की को हर तरह के काम में प्रशिक्षित करना भी चाहे तो हो सकता है कि पिता इसे नापसन्द करे।

समाज मानता है कि महिलाएं और पुरुष प्राकृतिक रूप से अलग-अलग काम करने के लिए बने हैं।

□ श्री कांचा आइलैया प्रख्यात लेखक, चिंतक एवं उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक हैं। प्रस्तुत लेख एकलव्य द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'हमारे समय में श्रम की गरिमा' से साभार हैं।

हर जाति, धर्म और वर्ग के परिवारों में इसी तरह की सोच होती है। इसे परिणामस्वरूप श्रम का लैंगिक आधार पर बंटवारा हो जाता है। यह सोचना गलत है कि यदि लड़के खाना बनाते हैं या साफ-सफाई के काम करते हैं तो उनका पुरुषत्व घट जाता है और वे 'लड़कियों जैसे' हो जाते हैं। इसी प्रकार एक भ्रान्ति यह भी है कि यदि लड़कियां वे काम करती हैं जो परम्परागत रूप से केवल लड़कों के काम माने जाते हैं, तो उनके नारीत्व में कमी आ जाती है और वे 'मर्दानी' हो जाती हैं। ये गलत और निराधार विचार हैं।

कई व्यवसायों में पुरुष और महिलाएं बराबरी से काम करते हैं। कुछ मामलों में तो महिलाएं पुरुषों से ज्यादा काम करती हैं। गांवों में ऐसी महिलाएं होती हैं जो खेत जोतती हैं और ऐसे पुरुष होते हैं जो बीज बोते हैं। धोबी परिवारों में महिलाएं और पुरुष दोनों ही अपने ग्राहकों के कपड़े धोते हैं। बुनकरों में भी महिलाएं बराबरी से काम करती हैं। कई परिवारों में ऐसे पुरुष होते हैं जो खाना बनाते हैं और महिलाएं घर से बाहर निकलकर काम करती हैं। पर उन शहरी परिवारों में जहां महिलाएं अपने घरों से बाहर व्यावसायिकों के रूप में काम करती हैं, उन्हें अन्त में दोहरा काम करना पड़ जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जब बात परिवार के लिए खाना बनाने पर आती है तो पुरुष रसोई के कामों में पूरी

तरह से भाग नहीं लेते। इस तरह का दोहरा काम करने के कारण महिलाओं की सेहत और उनकी ऊर्जा नष्ट हो जाती है।

श्रम का लैंगिक विभाजन बहुत हद तक पितृसत्ता (ऐसी स्थिति जहां परिवार या समाज में पुरुष हावी रहते हैं) का परिणाम है। पितृसत्तात्मक समाज लड़कियों और महिलाओं को यह महसूस करने पर मजबूर करता है कि वे लड़कों और पुरुषों से कमतर हैं। इसमें पुरुषों की सोच ऐसी बन जाती है कि वे खुद को श्रेष्ठ समझते हैं। पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता का प्रश्न श्रम सम्बन्धी प्रश्न है। उदाहरण के लिए, एक आम तौर पर पूछा जाने वाला प्रश्न है : क्या एक लड़की/ महिला, एक लड़के/ पुरुष द्वारा किया जा सकने वाला हर प्रकार का काम कर सकती है? इसका वैज्ञानिक उत्तर है 'हाँ'। यदि लड़कियों को वही आहार दिया जाए जो लड़कों को दिया जाता है, यदि लड़कियों को वही काम दिए जाएं जो लड़कों को दिए जाते हैं, यदि उन्हें स्कूलों और कॉलेजों में लड़कों की तरह ही प्रशिक्षित किया जाए, यदि उन्हें हर गतिविधि के क्षेत्र में बराबरी से प्रशिक्षण दिया जाए, तो लड़कियां वे सभी काम कर सकती हैं जो लड़के कर सकते हैं। इसी प्रकार पुरुष भी महिलाओं द्वारा किया जाने वाला हर घरेलू काम कर सकते हैं और उन्हें ऐसा करना ही चाहिए।(सप्रेस)

नोट : लेख का उपयोग होने पर कतरन एवं पारिश्रमिक की राशि 'सर्वोदय प्रेस सर्विस' के नाम भेजें।

# श्रम की गरिमा-गाथा

ई लेखक समाचार भागपुर 29-8-10

प्रख्यात समाजशास्त्री कांचा आइलैया ने 'हमारे समय में श्रम की गरिमा' नामक पुस्तक में सहज-सुबोध भाषा-शैली में श्रम का सचित्र इतिहास दिया है, जो श्रम को घृणित और हेय मानने वाले हिन्दू समाज के शिक्षण में सक्षम है। पुस्तक के ग्यारह अध्यायों में प्रथम अध्याय 'आदिवासी' है, जिसे लेखक ने पहला शिक्षक माना है क्योंकि इस समाज ने ही मानव समूह को कन्द-मूल, फलों और मांसों की पहचान दी, जिससे जीवन आगे बढ़ा। दूसरा अध्याय 'पशु-पालक' है, जिन्होंने मानव जाति की उन मवेशियों से अवगत कराया, जिससे पोषक तत्व मिलते हैं। तीसरा अध्याय 'चर्मकार' है, जिसने चर्मशोधन विज्ञान और चमड़ा उद्योग को विकसित किया। चौथा अध्याय 'किसान' है, जिन्होंने कृषि व्यवस्था का



पुस्तक : हमारे समाज में श्रम की गरिमा

लेखक : कांचा आइलैया

प्रकाशक : एकलव्य

ई-१०, बी.डी.ए. कॉलोनी,

शंकर नगर, शिवाजी नगर,

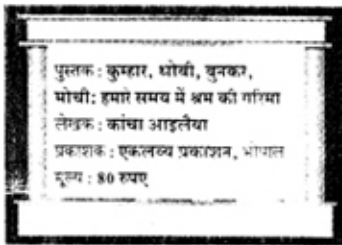
भोपाल-१६

पृष्ठ : १०४/ मूल्य : ८० रुपए.

निर्माण किया और मनुष्य को आखेटजीवी से आगे उपज आधारित जीवन दिया। पांचवां अध्याय 'कुम्हार' है, जिसने मिट्टी के जीवनोपयोगी साज-सामान से परिचित कराया। छठा अध्याय 'बुनकर' है, जिसने चरखा, करघा और वस्त्र संरचना का आविष्कार किया और समाज को आगे बढ़ाया। सातवां अध्याय 'धोबी' है, जिसने वह रसायन और सफाई पद्धति खोजी, जिससे कपड़े साफ और संक्रमणरहित हों। आठवां अध्याय 'नाई' है, जो पहला चिकित्सक है। नाई ने बाल काटने और शल्यक्रिया के लिए उस्तरो का प्रयोग किया। श्रम के इन जीवंत विश्लेषणों के बाद नौवां अध्याय 'जीवन का पर्याय, श्रम' पर है, जिसमें श्री आइलैया ने हजारों वर्षों में श्रम के हाथों मनुष्य के जीवन स्तर की बेहतरी को रेखांकित किया है। दसवां अध्याय

'श्रम और धर्म' है, जिसमें इस तथ्य को स्थापित किया गया है कि श्रम की गरिमा से विमुख धर्म परजीवी और शोषक ही हो सकता है। ग्यारहवां अध्याय 'श्रम और लिंग' में यह स्पष्ट किया गया है कि अपवादों को छोड़कर स्त्रियां वे सभी काम कर सकती हैं, जो पुरुष करते हैं। इसके साथ ही पुरुष भी घरेलू कामों के लिए अपरिहार्य हैं। यानी श्रम कोई लिंगभेद नहीं करता है। पुस्तक उस मानसिकता को सही समझ देता है, जो श्रम को तुच्छ मानता है। इसके बरक्स श्रम की गरिमा-गाथा यह पुस्तक सुनाता है, जिसे दुर्गाबाई व्याम के चित्रांकन ने सुंदर और आकर्षक बनाया है। पुस्तक का सहज-सरल अनुवाद भरत त्रिपाठी ने किया है। पुस्तक हर नजरिए से पठनीय और विचारपोषक है।

# श्रम की गरिमा को अर्थ देती एक पुरतक



## संजीव टाकुर

आज श्रम पर आधारित कामों के लिए लोगों के मन में कोई श्रद्धा नहीं रह गई है। श्रमजीवी वर्ग इसलिए हाड़तोड़ परिश्रम करने के बाद भी कम पारिश्रमिक पाने और अभावग्रस्त जीवन जीने को अभिश्राप है। ऐसे में कांचा आइलैया की लिखी किताब 'कुम्हार, धोबी, बुनकर, मोची : हमारे समय में श्रम की गरिमा' हमें श्रम और श्रम करने वाले लोगों को आदर-सम्मान की दृष्टि से देखने को प्रेरित करती है। मूलतः बच्चों के लिए लिखी यह किताब बड़ों को बहुत कुछ सिखा सकती है।

इस किताब में आदिवासियों, पशु-पालकों, चर्मकारों, किसानों, कुम्हारों, बुनकरों, धोबियों, नाइयों आदि के कामों की पड़ताल की गई है। यह बताया गया है कि ये हमारे पहले वैज्ञानिक हैं। इन्होंने ही हमें खाद्य-अखाद्य का बोध कराया, चमड़ों की चीजें बनाने की विधियाँ दीं, खेती के तरीके सिखलाए, बरतन और कपड़े बनाने के गुर सिखलाए, साफ-सफाई से रहने का ज्ञान दिया और शल्य-क्रिया से परिचय कराया। वे आदिवासी ही थे जिन्होंने प्रकृति में उपलब्ध कंद-मूल फल और मांसों को चखकर उन्हें खाद्य-अखाद्य की श्रेणी में बांटा। किसान पहले कृषि-वैज्ञानिक थे। पशु-पालकों ने हमें जानवरों के रखरखाव की शिक्षा दी तो चर्मकारों ने चमड़े की विभिन्न चीजें बनाने का ज्ञान। कुम्हारों ने हमें बर्तन बनाने के गुर सिखलाए तो बुनकरों ने तन ढंकने को कपड़े

दिए। धोबी ने सफाई का महत्व बतलाया और नाइयों ने कई बीमारियों का इलाज करना सिखलाया। कांचा आइलैया का सवाल है कि जिन-जिन लोगों ने हमारे जीवन की जरूरतें पूरी करने की दिशा में प्रयास किए, उन्हें हमारे समाज से इतनी उपेक्षा क्यों मिली? आज डॉक्टर, इंजीनियर, कृषि वैज्ञानिक आदि जो सम्मान पा रहे हैं, उसके हकदार वे लोग क्यों नहीं हैं? कांचा आइलैया तो चिकित्सक और सफाई कर्मचारी को समान मानते हुए, उनके समान वेतन की वकालत करते दिखाई देते हैं। उनकी यह सलाह अगर मान ली जाए तो सचमुच समाज से ऊँच-नीच और जात-पात जैसी समस्याओं से काफी हद तक निजात मिल सकती है। कांचा आइलैया श्रमजीवी समाज को आरक्षण के जरिए आगे भेजने के पक्ष में है। इसी तरह विभिन्न पेशाओं को जाति में बंधा देखना भी आइलैया को पसंद नहीं है। न ही वे श्रम को स्त्री-पुरुष के आधार पर बांटने के पक्षधर हैं। इस किताब की कोई कमी है तो यह कि इसमें सिर्फ ऊँची जातियों के लोगों के मन में श्रम के प्रति नफरत का भाव दिखलाया गया है जबकि सच्चाई यह है कि किसी भी जाति के लोग पढ़-लिखकर नौकरी करने लगते हैं तो उनके मन में श्रम के प्रति वितृष्णा पैदा हो जाती है। कांचा आइलैया ने इस बात को भी इस किताब में शामिल किया होता तो और अच्छा होता। मूलतः अंग्रेजी में लिखी इस किताब का अनुवाद भरत त्रिपाठी ने बहुत अच्छा किया है।



# रहस्य, रोमांच, प्रेम और प्रतिशोध की कॉकटेल

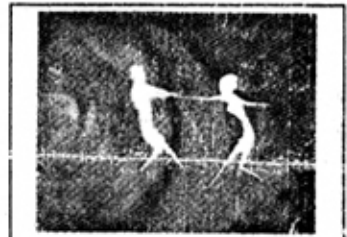
## अवनीश मिश्रा

चर्चित कथाकार-संपादक मुरारंफ आलम जीकी के नए उपन्यास 'सुनामी में विजेता' के शुरुआती पन्नों से गुजरते हुए यह अहसान होता है कि इस उपन्यास में इतिहास, राजनीति, विचारधारा और प्रेम के ताने-बाने में मानवीय जिजीविषा और उसकी संपर्कशीलता की कथा कही जानेवाली है। उपन्यास का समर्पण भी इसी ओर इशारा करता है, 'इनसान के लिए जो हमेशा से विजेता रहा है।' अहमद अली नाम का एक युवक काम की तलाश में बिहार से कोलकाता आता है। यहाँ उसकी मुलाकात सुदीप सान्याल नाम के एक नक्सली नेता से होती है। ऐसा लगता है कि यह उपन्यास नक्सलवादी आंदोलन और विचारधारा को केंद्र में रखकर आगे बढ़ने वाला है और लेखक प्रतिरोध की इस राजनीति का क्रिटीक रचने की तैयारी कर रहा है लेकिन उपन्यास इस जमीन पर ठहरने और उसे गहरा खोदने का साहस और संयम नहीं दिखाता। वह अचानक एक नई जमीन की ओर रुख कर लेता है।

कथा नक्सलवाद से कटकर एक भूतहा खानकाह की चहारदीवारी और उसके मालिक प्रोफेसर एस (सदरुद्दीन परवेज कुरैशी) के ईर्द-गिर्द सिमट जाती है। यहां एक रहस्यमय भूत-बंगले की भयावह दुनिया है। मकड़ों के जाले हैं, चमगादड़ों का शोर है, हेवानियत है, शैतानी मुक्कराहटें हैं। कुल मिलाकर उपन्यास के इस

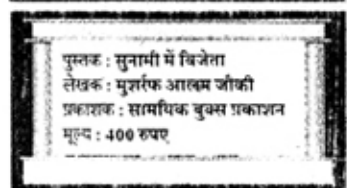
अंश को मुरारंफ आलम जीकी ने तिलिस्मी कहानी में तब्दील कर देने में कोई कसर बाकी नहीं रखी है। उपन्यास के एक बड़े हिस्से में सन् 2004 के सुनामी की विनाश लीला का वर्णन किया गया है। इसे एक रफ्त के तौर पर देखा जा सकता है। यह एक बड़ी बात है कि सुनामी जैसी प्राकृतिक आपदा को यहाँ कल्प का भाग बनाने की कोशिश की गई है। उपन्यास के भीतर सुनामी की तूफानी ताकत को एक प्रतीक के तौर पर लिया गया है। एक सुनामी रूपी हलचल प्रोफेसर एस के शिष्य परवेज सान्याल के भीतर भी है लेकिन इतने लंबे-चौड़े वर्णनों के माध्यम से लेखक क्या कहना चाह रहा है यह साफ नहीं होता। बड़े अफसोसजनक रूप से उपन्यास का रहस्य, रोमांच, हरर और वेह से होते हुए प्रतिशोध की कहानी में तब्दील हो जाना, निराश करता है। यहाँ उपन्यास ने चलते-चलते बहुत सी बातों पर टिप्पणी की है। मसलन नक्सल आंदोलन पर यह टिप्पणी 'आप लोग नक्सलवाद के नाम पर जो करते हैं, कल से वे सब एक इंडस्ट्री का रूप ले लेंगे।' ऐसी ही कुछ टिप्पणियाँ साहित्यिक पुरस्कारों, अकादमियों की राजनीति और किसी भी घटना को कैश कर लेने की आज की बाजार मानसिकता पर भी की गई है।

कुल मिलाकर इसे पाँचुलर साहित्य के खाने में ही रखा जाना चाहिए। जैसे फॉर्म के स्तर पर उपन्यास में फ्लेशबैक, डायरी, रफ्त, मोनोलॉग आदि का संतुलन प्यूजन आकर्षित करता है।



## सुनामी में विजेता

मुरारंफ आलम जीकी



पुरतक : सुनामी में विजेता  
लेखक : मुरारंफ आलम जीकी  
प्रकाशक : सामयिक बुक्स प्रकाशन  
मूल्य : 400 रुपये

नई दुनिया  
4 अक्टूबर 2009

भारत के ख्यातनाम समाज वैज्ञानिक और चिन्तक कांचा आइलैया की पुस्तक 'हमारे समय में श्रम की गरिमा' श्रम से दूर होते जा रहे समाज और इसके परिणामस्वरूप समाज में उत्पन्न समस्याओं को रेखांकित करती है। सभी शिक्षकों और किशोरों के लिए यह एक पठनीय पुस्तक है।

## हमें जो समाज चाहिए

पल्लव

स्वयं प्रकाश की एक कहानी है 'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी'। कहानी एक ऐसे टेलिफोन मेकेनिक की है जो अपने काम से बेइंतहा प्रेम करता है और इसके चलते अपने साथियों में उपहास का पात्र भी बनता है। परिश्रम उसका जीवन दर्शन है लेकिन वह इसकी सैद्धांतिकी से सर्वथा अनभिज्ञ है और अपने आचरण से चुपचाप कर्म संस्कृति की वापसी कर रहा है, जो मनुष्यता के लिए जरूरी है। सवाल यह है कि क्यों किया जाए परिश्रम ? मशीन हैं तो ! क्या विज्ञान ने तमाम आविष्कार हमारे जीवन को सुखी और आरामदायक बनाने के लिए नहीं किए हैं ? तो ! ऐसे में हाथों से काम करना ? और काम करने वाले ! या तो बेचारे हैं वे या इतने नालायक कि साहब झाड़ू लगाने के अलावा कर क्या सकते हैं ये ! किसी बड़े पद पर भी बैठ जाएं 'ये' तो अक्ल धोड़े आ जाएगी, जूते गांठने वाले ही रहेंगे। फिर अविनाश क्यों काम कर रहा है? काम से उसे प्यार कैसे है ?

यह सारी बातें कांचा आइलैया की पुस्तक 'हमारे समय में श्रम की गरिमा' पढ़कर मेरे मन में आई। आरक्षण का विरोध करते नवयुवक डॉक्टरों-इंजीनियरों को सबसे 'सहज गांधीवादी' तरीका नजर आता है, वह है झाड़ू लगाना। क्योंकि झाड़ू लगाना सबसे घटिया काम है जिसके लिए किसी ज्ञान, कौशल या बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। कांचा आइलैया इसी मिथक को तोड़ते हैं और आदिवासी पशुपालक, चर्मकार, किसान, कुम्हार, बुनकर, धोबी, नाई जैसे समुदायों के साथ जुड़े श्रम के गौरवपूर्ण अध्यायों की व्याख्या करते हैं। आदिवासी समुदाय पर लिखते हुए जो पहली बात पाठक के समक्ष रखते हैं वह यह है कि आखिर कब, कैसे, किसने तय किया होगा कि आम रसीला-स्वादिल-स्वास्थ्यवर्द्धक फल है और रतनजोत के फल खाने से मृत्यु हो सकती है। इस ज्ञान को देने वाले आदिवासियों को हमारा तकनीक संपन्न समाज जंगली समझकर दुल्कारता है, उन्हें दूसरे दर्जे का मनुष्य मानता है क्योंकि वे परिश्रम कर जीवन चलाते हैं। वे लिखते हैं- 'मानव जाति के जीवित रह पाने का प्रमुख कारण है कि हमने सहस्त्राब्दियों से सही प्रकार के खाद्य पदार्थ खाए हैं। आज जो कन्द मूल हम खाते हैं, उन्हें जमीन से खोदना पड़ता है, जो फल हम खाते हैं उन्हें पेड़ों से तोड़ना पड़ता है; जो मांस हम खाते हैं, वह पशु-पक्षियों से मिलता है। यदि आदिवासियों ने ये कठिन काम न किए होते तो मनुष्य जाति जीवित न रह पाती।' आगे वे स्पष्ट कहते हैं कि हमारी बुनियादी खाद्य संस्कृति विकसित करने की खातिर अपने जीवन और अंगों को खतरे में डालकर पाए ज्ञान को आदिवासियों ने दूसरों के साथ बांटा। तो क्या यह आधुनिक समाज की बिडम्बना और कृतघ्नता ही है कि वह परिश्रम को हेय समझता गया और जितनी अधिक मेहनत जो समुदाय करता उसे उतनी ही नीची नजर से देखने का अभ्यस्त होता गया ? वहीं आगे पुस्तक में जब वे नाई समुदाय पर लिखते हैं तब और अधिक रोचक जानकारी मिलती है जो इस बिडम्बना को गहरा करती है। आइलैया बताते हैं कि 'आधुनिक युग के पहले नाइयों के अलावा किसी भी अन्य जाति के लोग बीमारियों से पीड़ित लोगों को नहीं छूते थे। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अस्तित्व में आने तक नाई ही कई छोटी-मोटी शल्यक्रियाएं करते थे। उस्तरा चलाने में अपनी विशेषज्ञता के कारण वे रणभूमि में लगी चोटों का उपचार करते थे। वास्तव में शल्य चिकित्सा और बाल काटने के व्यवसाय में सहज संबंध है। शरीर के उस हिस्से पर जहां शल्यचिकित्सा होनी होती है, बालों की उपस्थिति के कारण

### लेखक परिचय

जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय, उदयपुर के हिन्दी विभाग में अध्यापन, बनास पत्रिका के संपादक।

पुस्तक : 'मीरा : एक पुनर्मूल्यांकन के संपादक, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा।

संपर्क : 403 बी-3, वैशाली अपार्टमेंट, सेक्टर-4, हिरणमगरी, उदयपुर-313002 राजस्थान

संक्रमण हो सकता है। इसलिए शल्यक्रिया से पहले बालों को पूरी तरह साफ करना अनिवार्य होता है। यह चलन आज भी जारी है। अतः नाई भारतीय समाज के सबसे पहले चिकित्सक कहे जा सकते हैं। तमिलनाडु में आज भी नाई को 'मरुतुवर' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है- 'चिकित्सक।' और हां, जरा इसी प्रसंग में नाई समुदाय की स्त्रियों-दाइयों की भूमिका पर विचार करें। वे न होतीं तो गांवों में प्रसव कौन करवाता ? आज भी आधुनिक चिकित्सा के इस बड़े अभाव को पूरा करने का दायित्व कौन उठा रहा है ? हम जानते हैं कि इस समुदाय की सामाजिक हैसियत डॉक्टर या नर्स वाली तो बिल्कुल ही नहीं है। भले बाजार में जावेद हबीब अपने सैलून की फ्रेंचाइजी महंगे दामों में देते हों।

'गोदान' पर विचार करते हुए समझ में आता है कि हमें अन्न देने वाले किसान की वर्गीय-सामाजिक स्थिति अन्नदाता की तो बिल्कुल नहीं है। सब्जी उगाने वाले और गली में सब्जी बेचने वाले दोनों को अपने श्रम का मूल्य मिले न मिले, सब्जी को गोदाम में जमा करने वाले पूंजीपति को हम पूरा आदर और धन देते रहेंगे। यह किताब ऐसी विडम्बनाओं को बार-बार कुरेदती है और पाठक को विवेकवान बनाती है। कांचा आइलैया ने इस छोटी किंतु अत्यंत रोचक व पठनीय पुस्तक में इतिहास, विज्ञान और समाज विज्ञान के अनेक प्रसंगों को समाहित कर उपयोगी बनाया है। मसलन वे धोबियों पर लिखे अध्याय में बताते हैं कि 'पुरानी पेशाब पहला डिटर्जेंट था' या 'प्राचीन रोम में कपड़े के टुकड़े पहले पुरानी पेशाब या अन्य क्षारीय जलों में भिगोए जाते थे।' कांचा आइलैया लिखते हैं- 'जो लोग अज्ञानतावश धोबियों की निन्दा करते हैं उन्हें धुलाई के विज्ञान की खोज करने वाले इस समुदाय से सीख लेने की कोशिश करनी चाहिए।' वे आगे इस समुदाय में मौजूद लैंगिक समानता को भी अनुकरणीय बताते हैं- 'जहां अधिकांश परिवारों में केवल महिलाएं कपड़े धोती हैं और अन्य घरेलू सफाई गतिविधियों का भार उठाती हैं, वहीं धोबियों में महिलाएं और पुरुष दोनों धुलाई का काम करते हैं।... सभी जातियों और समुदायों के पुरुषों और लड़कों को धोबी विरादरी के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए जो अपनी स्त्रियों के साथ मिलकर कपड़े धोते हैं। कोई भी अच्छा समाज महिला-पुरुष और लड़के-लड़की के बीच श्रम को लेकर भेदभाव नहीं करता।'



**पुस्तक** : हमारे समय में श्रम की गरिमा  
**लेखक** : कांचा आइलैया  
**प्रकाशक** : एकलव्य, ई-10, बीडीए कॉलोनी,  
 शंकर नगर, शिवाजी नगर,  
 भोपाल-16 (म.प्र.)  
**मूल्य** : 80 रुपए

पशुपालक समुदायों को वे श्रेय देते हैं कि उनकी वजह से ही भारत का मांस और दुग्ध उद्योग फला-फूला है लेकिन हमारी जाति व्यवस्था ने इसे तुच्छ और गन्दा पेशा मान लिया। कांचा इस विडम्बना को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं - 'आज भी पशुपालक समुदाय से आने वाले लालू प्रसाद यादव जैसे राजनेता का भैंसों से संबंध होने के कारण मखौल उड़ाया जाता है, जबकि यज्ञों में भाग लेने वाले और धार्मिक स्वामियों के पैरों पर गिरने वाले कई राजनेता उपहास का विषय नहीं बनते।' चर्मकारों पर लिखे अध्याय में वे प्राचीन भारत और रोम में इस समुदाय के लोगों के लिए बनाए नियमों की तुलना करते हैं। जहां भारत में प्रावधान था कि 'अखूत गांव के बाहर रहें, फेंके हुए कटोरों

का प्रयोग करें और टूटे हुए बरतनों में भोजन करें। कुत्ते और बन्दर इनकी सम्पत्ति हों' (मनु स्मृति), वहीं 'रोमन सम्राट डायोक्लेशियन द्वारा जारी किए गए फरमान के जरिए कई प्रकार के सामानों और सेवाओं के उच्चतम मूल्य तय किए गए।' पुस्तक में विभिन्न श्रमिक जातियों पर लिखे ऐसे अध्यायों को कांचा बेहद तार्किक-रोचक व गंभीर बनाते हुए यह बताना नहीं भूलते कि वर्तमान व्यवस्था में इन्हें समान अवसर व आदर क्यों दिया जाए। अन्त में लिखे गए वैचारिक अध्यायों में वे अपने निष्कर्षों को सैद्धान्तिक आधार देते हैं। वे लिखते हैं- 'श्रम सभ्यताओं की प्राण शक्ति है। यदि श्रम को उपेक्षित किया जाता है तो हर समाज में आलस्य का केंसर पैदा हो जाता है। भारत में श्रमिक समुदायों को अपमानित किया जाता रहा है और जो मेहनत का काम नहीं करते, उन्हें ऊंचा दर्जा मिलता रहा है। श्रम के प्रति ऐसे नकारात्मक रवैए के कारण मजदूर जातियों को अखूत माना गया।' आश्चर्य नहीं कि इसी रवैए ने लैंगिक विषमता को बढ़ावा दिया और औरतों को दूसरा दर्जा मिला। यदि हम अपना समाज उन्नत और वाकई सभ्य बनाना चाहते हैं तो इसके लिए जरूरी है कि समाज के सभी वर्गों-लोगों को समान अवसर, समान आदर और समान पारिश्रमिक मिले। इसके लिए श्रम की गरिमा को स्थापित करना असल चुनौती है। याद करें एक और कहानी-कफन। प्रेमचन्द ने कैसी विश्वसनीयता से बताया था कि जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना चाहते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहां इस तरह की

मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। घीसू और माधव चाहते हैं हम या अविनाश मोटू। काम कर आगे बढ़ता समाज या अपने दुर्गुणों को ओढ़ता-बिछाता नष्ट होता। और कहना न होगा कि हमारे स्कूल-कॉलेजों की शिक्षा वह सीढ़ी है जो परिश्रम के प्रति असम्मान के भाव को धो-पोंछ सकती है। शुरुआत यहीं से होनी चाहिए, तभी कांचा आइलैया जैसे बड़े समाज वैज्ञानिक चिन्तक

स्कूली बच्चों और अध्यापकों के लिए ऐसी पुस्तक लिखने के लिए तत्पर हुए। अंग्रेजी की इस पुस्तक का हिन्दी संस्करण किसी दृष्टि से अनुवाद या पुनर्प्रस्तुति नहीं लगता, दुर्गाबाई व्याम के चित्र इसकी आभा को दुगुना करते हैं। चिन्ता यही होनी चाहिए कि भारत का हर विद्यार्थी और अध्यापक इसे कैसे पढ़े ? ♦

## सभ्यताओं की प्राणशक्ति

श्रम सभ्यताओं की प्राणशक्ति है। यदि श्रम को उपेक्षित किया जाता है तो हर समाज में आलस्य का कैंसर पैदा हो जाता है। भारत में श्रमिक समुदायों को अपमानित किया जाता रहा है और जो मेहनत का काम नहीं करते उन्हें ऊंचा दर्जा मिलता रहा है। श्रम के प्रति ऐसे नकारात्मक रवैए के कारण ही मजदूर जातियों को अछूत माना गया। यदि किसी प्रकार का श्रम ज्यादा कठिन होता था और उससे ज्यादा बड़ी संख्या में लोग लाभान्वित होते थे, तो उस श्रम से जुड़ी जाति को और भी अधिक अछूत बना दिया जाता था। इसलिए हम देखते हैं कि वे सभी लोग जो नालियां और सड़कें साफ करते हैं, जो गांवों में मृत पशुओं को ठिकाने लगाते हैं, जो पशुओं की देखरेख करते हैं, जो मनुष्यों की हजामत बनाते हैं और जो लोगों के कपड़े धोते हैं, वे न केवल अनादर झेलते हैं बल्कि बहुत कम मेहनताना भी पाते हैं। कभी-कभी तो उन्हें मजदूरी दी ही नहीं जाती। ऐसी जाति व्यवस्था में महिलाओं का दर्जा पुरुषों से हीन होना स्वाभाविक था क्योंकि महिलाओं को अतिशय घरेलू श्रम करने के लिए मजबूर किया जाता रहा है। सामान्यतः आज भी हमारे समाज में पुरुष उन कामों में हाथ नहीं बंटते जो महिलाओं को परंपरागत रूप से मजबूरी में करना पड़ते हैं।

इतना ही नहीं, शिक्षित जातियों और समुदायों ने श्रम करने वालों को मूर्ख कहकर उनकी निन्दा की और उन्हें इस लायक नहीं माना कि उनके साथ मनुष्यों जैसा बर्ताव किया जाए। न उन्हें शिक्षा हासिल करने लायक समझा गया, न ही लेखक, प्रबंधक, इंजीनियर, चिकित्सक या लेखापाल बनने योग्य समझा गया। पुरोहित समुदाय ने कड़ी मेहनत करने वालों को 'बुरे लोग' मानने के रवैए का समर्थन किया। इस प्रकार श्रमिक समुदायों को अपमानित करने वाले इस रिवाज को धार्मिक वैधता मिल गई।

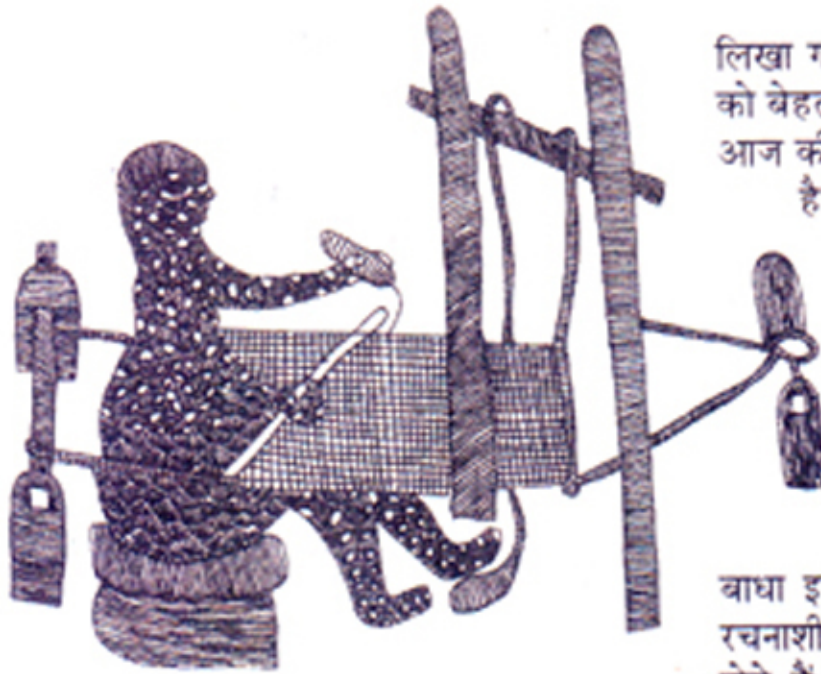
ईश्वर किसी काम से घृणा नहीं करता। ये तो कुछ मनुष्य होते हैं जो ऐसा करते हैं। ईश्वर की अवधारणा का श्रम की निन्दा और आराम की प्रशंसा करने जैसी बातों से कोई संबंध नहीं है। कुछ लोगों की धारणा जो भी हो, मनुष्य के जीवित रहने के लिए श्रम अनिवार्य है।

प्रार्थना की तरह श्रम कोई निजी कार्य नहीं है। श्रम तो खुद को और दूसरों को नवजीवन देने की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति की मेहनत के फल अन्य कई जिन्दगियों का भी पोषण करते हैं। यदि कोई चमड़े पर मेहनत करता है तो वह चमड़ा किसी उपयोगी वस्तु, जैसे जैकेट, रस्सी, बेल्ट, जूते, बैग, ढोल, गुड़िया इत्यादि में तब्दील हो जाता है। यदि कोई मिट्टी पर काम करता है तो वह मिट्टी किसी बरतन में रूपान्तरित की जा सकती है। यदि कोई भूमि जोतकर उसमें बीज बोता है तो वह भूमि अनाज, सब्जियां और फल पैदा करती है। जब किसी व्यक्ति का श्रम उपयोगी वस्तुएं पैदा करता है तो कई लोग उनका उपयोग करते हैं। पुरोहित उनका उपभोग करता है, चिकित्सक उनका उपभोग करता है और शिक्षक भी उनका उपभोग करता है। यदि कोई पुरोहित या शिक्षक यह कहता है कि इन वस्तुओं का उत्पादक मूर्ख है, तो यह न केवल धार्मिक पाप है बल्कि सामाजिक अपराध भी है।

बच्चों को यह जरूर सीखना चाहिए कि श्रम जीवन का स्रोत है। उन्हें खेती, पशु पालन, बड़ईगिरी और बुनकरी के कामों में कुशलता हासिल करने की कोशिश भी करनी चाहिए। उन्हें यह जरूर जानना चाहिए कि कैसे इन श्रम कार्यों का विज्ञान और तकनीकी कामों के साथ जीवन्त संबंध है।

(समीक्षित पुस्तक से एक अंश)





लिखा गया है जो अपने हुनर और श्रम से समाज को बेहतर बनाने में योगदान देते हैं और समाज को आज की स्थिति तक लाने में जिनकी बड़ी भूमिका है। आधुनिक भारतीय समाज में पढ़ाई-लिखाई का महत्व है यह तो अच्छी बात है, लेकिन इसके साथ अपने हाथ मैले न करने की भी अवधारणा जुड़ी है। जो व्यक्ति बैठे-बैठे कागज और कंप्यूटर पर काम करे वह श्रेष्ठ और जो बाहर मेहनत करे, वह उससे कमतर माना जाता है। भारत के विकास में एक बड़ी

बाधा इस तरह से सोचना है क्योंकि इससे एक रचनाशील और मेहनती वर्ग को आप कमतर मान लेते हैं और दूसरे जिसे हम श्रेष्ठ मानते हैं उसे अपने ही सच का व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता। कांचा आइलैया ने बड़े रोचक ढंग से विभिन्न व्यवसाय और हुनरों के इतिहास और महत्व के बारे में लिखा है जिससे मध्यमवर्गीय बच्चों और बड़ों को इन व्यवसायों का सम्मान करने की जरूरत पता चलेगी और श्रमिक वर्ग के लोगों को अपने काम के गौरव का अहसास होगा। विभिन्न पेशों के

इतिहास को जानने से हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का एक समग्र आकलन भी होगा। अगर इस किताब को पढ़ कर लोग श्रम और श्रमिकों का आदर करना सीखें तो यह हमारे समाज के लिए अच्छा होगा।

राजेंद्र धोड़पकर

## कुम्हार, धोबी, बुनकर, मोची : हमारे समय में श्रम की गरिमा

एकलव्य नामक संस्था शिक्षा के क्षेत्र में कई वर्षों से लगन के साथ कार्य कर रही है। इस संस्था ने ही यह सुंदर किताब छापी है। सुंदर टाह कई अर्थों में है। कांचा आइलैया ने इसे लिखा बहुत सुंदर ढंग से है, अनुवाद भी पहले दर्जे का है, और किताब सुरुचिपूर्ण ढंग से छपी है। इस किताब का एक महत्वपूर्ण पक्ष दुर्गाबाई व्याम के रेखांकन हैं जिनकी वजह से यह किताब संग्रहणीय हो जाती है। इस किताब में हमारे देश के तमाम ऐसे हुनरमंद समूहों के बारे में

पुस्तक : कुम्हार, धोबी, बुनकर, मोची : हमारे समय में श्रम की गरिमा

लेखक : कांचा आइलैया

अनुवाद : भरत त्रिपाठी, चित्र : दुर्गाबाई व्याम,

प्रकाशक : एकलव्य, ई-10, बीडीए

कॉलोनी, शंकर नगर, भोपाल-16

मूल्य : 80 रुपए

# हमें समाज जो चाहिए

पल्लव

स्वयंप्रकाश की एक कहानी है 'अविनाश' मोटू उर्फ एक आम आदमी.' कहानी एक ऐसे टेलीफोन मेकनिक की है जो अपने काम से बेइंतहा प्रेम करता है और इसके चलते अपने साथियों में उपहास का पात्र भी बनता है. परिश्रम उसका जीवन दर्शन है लेकिन वह इसकी सैद्धांतिकी से सर्वथा अनभिज्ञ है और अपने आचरण से चुपचाप कर्म संस्कृति की वापसी कर रहा है, जो मनुष्यता के लिए जरूरी है.

यह सारी बातें कांचा आइलैया की पुस्तक 'हमारे समय में श्रम की गरिमा' पढ़कर मेरे मन में आई. आरक्षण का विरोध करते नवयुवक डॉक्टरों, इंजीनियरों को सबसे सहज 'गांधीवादी' तरीका नज़र आता है, वह है झाड़ू लगाना. क्योंकि झाड़ू लगाना सबसे घटिया काम है जिसके लिए किसी ज्ञान, कौशल या बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती. कांचा आइलैया इसी मिथक को तोड़ते हैं और आदिवासी पशुपालक, चर्मकार, किसान, कुम्हार बुनकर, धोबी, नाई जैसे समुदायों के साथ जुड़े श्रम के गौरवपूर्ण अध्यायों की व्याख्या करते हैं. आदिवासी समुदाय पर लिखते हुए जो पहली बात पाठक के समक्ष रखते हैं वह यह है कि आखिर कब, कैसे, किसने तय किया होगा कि आम रसीला-स्वादिल-स्वास्थ्यवर्द्धक फल है और रतनजोत का फल खाने से मृत्यु हो सकती है. इस ज्ञान को देने वाले आदिवासियों को हमारा तकनीक संपन्न समाज जंगली समझकर दुल्कारता है, उन्हें दूसरे दर्जे का मनुष्य मानता है क्योंकि वे परिश्रम कर जीवन चलाते हैं, वे लिखते हैं, 'मानव जाति के जीवित रह पाने का प्रमुख कारण है कि हमने सहस्राब्दियों से सही प्रकार के खाद्य पदार्थ खाए हैं. आज जो कंदमूल हम खाते हैं, उन्हें जमीन से खोदना पड़ता है;

पुस्तक : हमारे समय में श्रम की गरिमा

लेखक : कांचा आइलैया

प्रकाशन : एकलव्य,  
भोपाल

मूल्य : 75 रुपये

वर्ष : 2009



जो फल हम खाते हैं उन्हें पेड़ों से तोड़ना पड़ता है; जो मांस हम खाते हैं, वह पशु-पक्षियों से मिलता है. यदि आदिवासियों ने ये कठिन काम न किए होते तो मनुष्य जाति जीवित न रह पाती. आगे वे स्पष्ट कहते हैं कि हमारी बुनियादी खाद्य संस्कृति विकसित करने की खातिर अपने जीवन और अंगों को खतरे में डालकर पाए ज्ञान को आदिवासियों ने दूसरों के साथ बांटा. तो क्या यह आधुनिक समाज की विडम्बना और कृतघ्नता ही है कि वह परिश्रम को हेय समझता गया और जितनी अधिक मेहनत जो समुदाय करता उसे उतनी ही नीची नज़र से देखने का अभ्यस्त होता गया? वहीं आगे पुस्तक में जब वे नाई समुदाय पर लिखते हैं तब और अधिक रोचक जानकारी मिलती है जो इस विडम्बना को गहरा करती है. आइलैया बताते हैं कि 'आधुनिक युग के पहले नाइयों के अलावा किसी भी अन्य जाति के लोग बीमारियों से पीड़ित लोगों को नहीं छूते थे. आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अस्तित्व में आने तक नाई ही कई छोटी-मोटी शल्यक्रियाएं करते थे. उस्तरा चलाने में अपनी विशेषज्ञता के कारण वे रणभूमि में लगी चोटों का उपचार करते थे. वास्तव में शल्य चिकित्सा और बाल काटने के व्यवसाय में सहज संबंध है.

शरीर के उस शल्यक्रिया से पहले बालों को पूरी तरह साफ करना अनिवार्य होता है. यह चलन आज भी जारी है. अतः नाई भारतीय समाज के सबसे पहले चिकित्सक कहे जा सकते हैं. तमिलनाडु में आज भी कई नाई को 'मरुतुवर' कहा जाता है जिसका अर्थ होता है—चिकित्सक. और हां, जरा इसी प्रसंग में नाई समुदाय की स्त्रियों-दाइयों की भूमिका पर विचार करें. वे न होतीं गांवों में प्रसव कौन करवाता?

किताब ऐसी विडम्बनाओं को बार बार कुरेदती है और पाठक को विवेकवान बनाती है. कांचा आइलैया ने इस छोटी किंतु अत्यंत रोचक व पठनीय पुस्तक में इतिहास, विज्ञान और समाज विज्ञान के अनेक प्रसंगों को समाहित कर उपयोगी बनाया है. मसलन वे धोबियों पर लिखे अध्याय में बताते हैं कि 'पुरानी पेशाब पहला डिटर्जेंट था' या 'प्राचीन रोम में कपड़े के टुकड़े पहले पुरानी पेशाब या अन्य क्षारीय घोलों में भिगोए जाते थे.' कांचा आइलैया लिखते हैं, जो लोग अज्ञानतावश धोबियों की निंदा करते हैं उन्हें धुलाई क्रे विज्ञान की खोज करने वाले इस समुदाय से सीख लेने की कोशिश करना चाहिए.' वे आगे इस समुदाय में मौजूद लैंगिक समानता को भी अनुकरणीय बताते हैं, जहां अधिकांश परिवारों में केवल महिलाएं कपड़े धोती हैं और अन्य घरेलू सफाई गतिविधियों का भार उठाती हैं, वहीं धोबियों में महिलाएं और पुरुष दोनों धुलाई का काम करते हैं. ...सभी जातियों और समुदायों के पुरुषों और लड़कों को धोबी विरादरी के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए जो अपनी स्त्रियों के साथ मिलकर कपड़े धोते हैं. कोई भी अच्छा समाज महिला-पुरुष और लड़के-लड़की के बीच श्रम का लेकर

विभाग नहीं करता। पशुओं के समुदायों का वे श्रेय देते हैं कि उनके वजह से ही भारत का नाम और साथ उद्योग फला-फूला है लेकिन हमारी जाति व्यवस्था ने इसे तुच्छ और गन्दा पेशा मान लिया. कांचा इस विडम्बना को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं, 'आज भी पशु पालक समुदाय से आने वाले लालू प्रसाद यादव जैसे राजनेता का भैंसों से संबंध होने के कारण मखौल उड़ाया जाता है, जबकि यज्ञों में भाग लेने वाले और धार्मिक स्वामियों के पैरों पर गिरने वाले कई राजनेता उपहास का विषय नहीं बनते.' चर्मकारों पर लिखे अध्याय में वे प्राचीन भारत और रोम में इस समुदाय के लोगों के लिए बनाए नियमों की तुलना करते हैं. जहां भारत में प्रावधान था कि 'अछूत गांव के बाहर रहें, फेंके हुए कटोरों का प्रयोग करें और टूटे हुए बरतनों में भोजन करें. कुत्ते और बंदर इनकी संपत्ति हों, (मनु स्मृति) वहीं रोमन सम्राट डायोक्लेशियन द्वारा जारी किए गए फरमान के जरिए कई प्रकार के सामानों और सेवाओं के उच्चतम मूल्य तय किए गए, पुस्तक में विभिन्न श्रमिक जातियों पर लिखे ऐसे अध्यायों को कांचा बेहद तार्किक, रोचक व गंभीर बनाते हुए यह बताना नहीं भूलते कि वर्तमान व्यवस्था में इन्हें समान अवसर व आदर क्यों दिया जाए! अंत में लिए गए वैचारिक अध्यायों में वे अपने निष्कर्षों को सैद्धांतिक आधार देते हैं. वे लिखते हैं—श्रम सभ्यताओं की प्राण शक्ति है. यदि श्रम को उपेक्षित किया जाता है तो हर समाज में आलस्य का कैंसर पैदा हो जाता है. भारत में श्रमिक समुदायों को अपमानित किया जाता रहा है और जो मेहनत का काम नहीं करते उन्हें ऊंचा दर्जा मिलता रहा है. श्रम के प्रति ऐसे नकारात्मक रवैए के कारण मजदूर जातियों को अछूत माना गया. आश्चर्य नहीं कि इसी रवैए ने लैंगिक विषमता को बढ़ावा दिया और औरतों को दूसरा दर्जा मिला. यदि हम अपना समाज उन्नत और वाकई सभ्य बनाना चाहते हैं तो इसके लिए जरूरी है कि समाज के सभी वर्गों-लोगों को समान अवसर समान आदर और समान पारिश्रमिक मिले. इसके लिए श्रम की गरिमा को स्थापित करना असल चुनौती है. याद करें एक और कहानी. कफन. प्रेमचंद ने कैसी विश्वसनीयता से बताया था कि जिस समाज में रात दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना चाहते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी. घीसू और माधव चाहते हैं हम या अविनाश

## जिंदा लोग

साहित्य, संस्कृति एवं सामाजिक  
चेतना का राष्ट्रीय पाक्षिक

(मूल्य : 5/-, वार्षिक चंदा 120/-)

संपादक : संजना तिवारी

सलाहकार संपादक : राधेश्याम तिवारी

संपर्क :

डी-70, गली नं. 4, अंकुर एनक्लेव,

करावल नगर, दिल्ली-110094

मो. 09350135756,

09312736733

मोटू. शुरुआत स्कूलों से होनी चाहिए, तभी कांचा आइलैया जैसे बड़े समाज वैज्ञानिक-चिंतक स्कूली बच्चों और अध्यापकों के लिए ऐसी पुस्तक लिखने के लिए तत्पर हुए. अंग्रेजी की इस पुस्तक का हिंदी संस्करण किसी दृष्टि से अनुवाद या पुनर्प्रस्तुति नहीं लगता.

संपर्क : 403-बी3, वैशाली  
अपार्टमेंट, सेक्टर 4, हिरण  
मगरी, उदयपुर-313002

□